

## पूंजीवाद, कानून और बेशी आबादी — मुंडका हादसे के संदर्भ में

### प्रत्यूष चंद्र

पर्सियस ने एक जादू की टोपी ओढ़ ली थी, ताकि वह जिन दानवों को खोजकर मारने के लिए निकला था, वे उसे देख न पायें। हम अपनी आँखों और कानों को जादू की टोपी से इसलिए ढँक लेते हैं कि हम यह मान सकें कि दानव हैं ही नहीं। — मार्क्स, पूंजी भाग १:१९

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।  
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥  
(सारे कर्म प्रकृति के गुणों की क्रिया से संभव होते हैं,  
अहंकार-विमूढ़ ये समझता है कि वह कर्ता है)

गीता ३:२७

१३ मई को मुंडका में स्थित सीसीटीवी और इंटरनेट उपकरण बनाने वाली एक औद्योगिक इकाई में आग लगने से सरकारी आंकड़ों के अनुसार २ दर्जन मजदूरों सहित २७ लोगों की जान चली गई। आग भीषण होने और भागने की गुंजाइश नहीं होने के कारण लाशें इस तरह से जल चुकी थीं कि लाशों की डीएनए जांच द्वारा पहचान करते-करते महीने से भी ज्यादा लग गए, और आए दिन हादसे से संबंधित नई बातें बाद में भी सामने आती रही हैं — यहां तक कि मरने वालों की संख्या पर भी पूरी सहमति नहीं दिखती है। जब जांच शुरू हुई तो कंपनी के कार्यकलापों में वैधानिक और प्रबंधनात्मक अनियमितताएँ सामने आने लगी, जो प्रशासकीय गठजोड़ के बिना होना असंभव लगता है।

स्वाभाविक है कि सरकारी स्तर पर प्रतिक्रियाएँ घटना की आकस्मिकता, उस पर अफसोस और मुआवजे की घोषणाओं (जिनके भुगतान का सवाल अपने आप में एक संघर्ष है) तक सिमटी रही, परंतु मजदूर पक्षीय संगठनों और व्यक्तियों की भी प्रतिक्रियाएँ सरकार से इंस्पेक्टर राज की पुनर्बहाली की मांग उठाने से आगे नहीं जा सकी क्योंकि उनकी दृष्टि में इन हादसों की बीज औद्योगिक प्रणाली के स्वभाव में नहीं निहित है, अपितु प्रबंधनात्मक अनियमिताओं और भ्रष्टाचार की वजह से ये हादसे होते हैं — अगर इससे आगे ये प्रतिक्रियाएँ जाएँगी भी तो उनके लिए ये घटनाएँ अंतिम तौर पर सरकारी नीतियों की वजह से हैं, जिन्होंने पूंजीपतियों को भ्रष्ट आचार और व्यवहार करने की खुली छूट दे दी है। वे विरले ही इन हादसों को पूंजीवाद में काम की प्रकृति और उसे करने की प्रणाली से जोड़ कर देखते हैं।

मुण्डका की घटना हादसा अवश्य थी मगर वह केवल ऊपरी तौर पर ही आकस्मिक थी। हादसों के परिमाणात्मक पक्ष को अगर हम छोड़ दें तो यह आकस्मिक दुर्घटना आम बात लगेगी — ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं! और यही बात सरकार, "औसत आदमी" अथवा नागरिक, मीडिया इत्यादि की क्रिया और प्रतिक्रिया को तय करती है। ऐसे हादसे की संभावना हमेशा बनी रहती है — उनके होने को मुल्तवी किया जा सकता है, मगर उनके होने की संभावना को कभी नहीं मिटाया जा सकता। कुछ नतीजे ऐसे होते हैं जो

मूल प्रक्रिया के उद्देश्य हैं, परंतु कुछ ऐसे भी नतीजे होते हैं जो उस प्रक्रिया के गठन में सम्भावनाओं के रूप में हमेशा मौजूद रहते हैं और मौका पाते ही सामने आ जाते हैं।

### औद्योगिक हादसे और नागरिक सवाल

औद्योगिक हादसों को महज तकनीकी मानने से उनके होने में सामाजिक संबंधों की भूमिका ओझल हो जाती है और फिर उनको आकस्मिक बता कर कुछ लोगों पर गलतियाँ मढ़ना आसान हो जाता है। फिर उनका निवारण तकनीकी और प्रबंधनात्मक ही रह जाता है — सामाजिक संबंधों में बदलाव का सवाल गौण हो जाता है।

औद्योगिक हादसों पर काम कर रहे एक प्रमुख समाजशास्त्री, टॉम ड्वायर, ने गौर किया है कि ये हादसे बीसवीं सदी की शुरुआत तक पूँजीवादी सामाजिक और औद्योगिक संबंधों पर सामाजिक-राजनीतिक संवाद और आलोचना का आधार बनते थे। इन हादसों को उद्योगों और बृहत समाज में विकसित होती पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली और संबंधों के नतीजे के तौर पर देखा जाता था। कई समाजशास्त्री इन हादसों को आधुनिक समाज में श्रमशक्ति के जिंसीकरण, उस पर आधारित अमानवीकृत श्रम-प्रक्रियाएँ और उनसे पैदा होते अलगाव के संस्थाकरण से उत्पन्न होती सामाजिक विकृतियों के रूपक के रूप में देखते रहे हैं — ये ऐसे रूपक हैं जो पूँजीवाद के अंदर तमाम तरह की विकृत संबंधों और प्रक्रियाओं की व्याख्या में मदद कर सकते हैं। चूंकि समाजवाद इन संबंधों का निषेध है, इसीलिए इस तरह के हादसे पहले पूँजीपरस्त व्यवस्था के खिलाफ समाजवादियों (सामाजिक जनवादियों के विभिन्न घटकों और अराजकतावादियों) के वैचारिक जवाबी आधिपत्य को बुलंद करने में अहम भूमिका निभाते थे।

परंतु बीसवीं सदी में हुए औद्योगिक प्रबंधनात्मक-तकनीकी परिवर्तन, कीसिय कल्याणकारी राजकीयवाद के विकास और सामाजिक निगमवाद के संस्थाकरण ने इन हादसों पर सामाजिक आलोचनात्मक शोच को पूरी तरह से द्रकिनार कर दिया। ज्यादा-से-ज्यादा वे सुधारवादियों की माँगवादी राजनीति में महज नए मांग पेश करने के संदर्भ बन कर रह गए। विशेषज्ञों के लिए ऐसे हादसों के होने की संभावनाएँ महज गण्य "रिस्क" हैं जिन्हें तकनीकी बदलावों और प्रबंधनात्मक कुशलता से टाला जा सकता है। अगर घटनाएँ हो भी जाती हैं तो उन्हें बहुत आसानी से कुछ प्रबंधकों की और कई बार तो खुद पीड़ितों की गलतियों के रूप में दिखाया जा सकता है — सामाजिक औद्योगिक संबंधों से काटकर अगर इन घटनाओं की व्याख्या होगी तो बहुत बार ऐसा ही प्रतीत होगा जिनमें निचले स्तर के प्रबंधकों और स्वयं पीड़ित मजदूरों की लापरवाही तात्कालिक कारक के रूप में नजर आएंगी।

ड्वायर के अनुसार बीसवीं सदी के उत्तरार्थ से औद्योगिक हादसे अपने आप में नागरिक चेतना से बाहर हो गए, और वे तभी मुद्दा बनते हैं जब वे गैर-श्रमिक जन-समुदाय को प्रभावित करते दिखाई पड़ते हैं — जैसे सेवेसो, भोपाल, फ्लिक्सबरो, चेनोंबिल और थ्री माईल आइलैंड। ये सभी हादसे औद्योगिक ही थे और इनमें मरने और घायल होने वालों में मजदूरों की ही संख्या अधिक थी, परंतु उनकी औद्योगिक प्रकृति कोई मायने नहीं रखती — उनका लोक मुद्दा बनना तभी संभव होता है जब वे गैर औद्योगिक जन समुदाय के जीवन यापन पर असर डालते हैं। रिहायशी इलाकों से उद्योगों को अलग रखने की कोशिश इसी तरह के सामाजिक विभाजन का प्रत्यक्ष परिणाम है। उद्योग के अंदर की जोखिम जिसके शिकार मजदूर होते हैं, वह नागरिक सवाल नहीं बनता।

भारत में हादसों, प्रदूषण और अन्य औद्योगिक प्रश्नों पर जो प्रमुख न्यायिक फैसले हैं उनमें भी यही प्रवृत्ति दिखती है। उदाहरणतः एमसी मेहता बनाम भारत संघ (१९८७ AIR १०८६) में सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ की ओर से न्यायमूर्ति पीएन भगवती के तथाकथित ऐतिहासिक फैसले ने भी इसी 'तथ्य' को स्थापित किया है। उन्होंने अगर एक तरफ जोखिम भरी उत्पादन प्रक्रियाओं को विकासशील आधुनिक जीवन की अनिवार्यता के रूप में देखा है, तो दूसरी तरफ इन प्रक्रियाओं में संलग्न इकाइयों का "नागरिक

समाज" के प्रति सम्पूर्ण दायित्व के सिद्धांत को स्थापित किया है। परंतु चूंकि औद्योगिक जोखिम और हादसे की संभावना अनिवार्य है इन उद्योगों में लगे मजदूरों के लिए काम के तमाम खतरे उद्योगों के बृहत परिचालनात्मक जोखिम का हिस्सा मान लिया गया है — आखिर ये मजदूर संसाधन ही तो हैं, मानवीय संसाधन। इसीलिए इन फैसलों में मजदूरों का जिक्र ज्यादातर उनके रोजगार को लेकर होता है, न कि काम के दौरान हादसों या उनसे संभावित और वास्तविक शारीरिक-मानसिक असर इत्यादि को लेकर। शायद इन हादसों को उनकी श्रम-संविदा का हिस्सा मान लिया जाता है। आखिरकार न्यायमूर्ति पीएन भगवती ने भी अपने फैसले में अति-विकसित वैज्ञानिक ज्ञान और तकनीक से सम्पन्न आधुनिक औद्योगिक समाज में विकास कार्यक्रम के तहत जोखिम भरे अथवा स्वाभाविक रूप से खतरनाक उद्योगों के चलते रहने की आवश्यकता पर बल दिया था। जब तक ये जोखिम "आम/औसत आदमी" अथवा नागरिक जीवन को प्रभावित नहीं करते या परिमाणात्मक स्तर पर सनसनीखेज पैदा करते लग नहीं रहे हों तो ये न तो खबर बनते हैं न ही नागरिक और न्यायिक सक्रियता का केंद्र बनते हैं।

मजदूर पक्षीय लोग भी इन घटनाओं में भ्रष्टाचार और चौकसी व्यवस्था की कमी ही देखते हैं, और इसीलिए आम तौर पर ऐसी घटनाओं के संदर्भ में वे शासन अथवा राज्य-व्यवस्था के बल तंत्र को और मजबूत करने की मांग करते हैं। औद्योगिक हादसों और उनकी संभावनाओं को लेकर खुद मजदूर यूनियनों की भी सजगता और दिलचस्पी कम ही होती है। जब तक ये हादसे संभावनाएँ होती हैं तब तक इन पर वे सोचते ही नहीं हैं। जब ये संभावनाएँ घटनाओं में तब्दील हो जाती हैं तो सारी लड़ाई मुआवजे के सवाल और मजबूत प्रशासनिक चौकसी के सवाल पर आ कर अटक जाती है। "यूनियन की चुप्पी का एक प्रमुख कारण है सुरक्षा और मुआवजे की मांगों का 'तटस्थता', मूलतः राजकीय, कार्यवाही के दायरे में संस्थाकरण।" राजकीय कार्यवाही की मांग जिसकी गुहार ये यूनियनें लगाती हैं वह कई दशकों से कुछेक बिंदुओं पर ही अटकी हुई हैं — प्रमुखतः, इंस्पेक्टरों की बहाली, उनको प्रभावशाली बनाने की बात और उन्नत मानकों का निर्धारण। जो हादसों के प्रश्न पर सक्रियता दिखाते भी हैं वे ज्यादातर मालिकों के साथ मिलकर सुरक्षा समितियाँ बनाकर मजदूरों के बीच जागरूकता अभियान आयोजित करने के रस्म तक सीमित रहते हैं — यानी वे प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में "श्रमिक-लापरवाही" के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। (इवायर) काम की प्रकृति और उद्योगों का पूँजीवादी नियोजन जिनमें ये हादसे संभावनाओं के रूप में विद्यमान रहते हैं विरले ही मुद्दा बनते हैं।

### कौन है जिम्मेदार? पूँजीपति या सरकार? या फिर कोई और?

मार्क्स ने पूँजी के प्रथम खंड में फैक्ट्रियों की अमानवीय स्थिति को उजागर करने में इंग्लैंड के फैक्ट्री-इंस्पेक्टरों, डाक्टरों और अन्य जाँचकर्ताओं की भूमिका को खूब सराहा है। उनके कड़े परिश्रम के कारण ही फैक्ट्री अधिनियमों और अन्य श्रम कानूनों में कल्याणकारी बदलाव संभव हो सका। शायद जो मार्क्स उस समय के जर्मनी और अन्य पश्चिमी यूरोप के देशों के बारे में कहते हैं वह भारत पर आज डेढ़ सौ साल बाद भी लागू है (जबकि भारत ने अभी अभी अर्थव्यवस्था के परिमाणात्मक आधार पर इंग्लैंड को पार कर लिया है) — अगर इंग्लैंड के जाँचकर्ताओं "जैसे योग्य और पक्षपातरहित तथा लोगों की लिहाज़दारी से आजाद लोगों को पाना संभव होता, तो हम अपने देश में हालत देखकर विस्मयाभिभूत हो जाते।" हमारे देश में भी "सामाजिक आँकड़े बहुत ही खराब ढंग से संकलित किए जाते हैं।" लेकिन जो भी आँकड़े मौजूद हैं "घूँघट को इतना तो जरूर उठा देते हैं कि उसके पीछे छिपे हुए मेदूसा के खौफनाक सिर की एक झलक हमें मिल जाए।" (पूँजी भाग १: १९)

मुंडका जैसी घटनाएँ भारत में औद्योगिक जीवन के खुले रहस्य का जायजा लेने का मौका देती हैं — जो एक बार फिर जल्द ही सार्वजनिक चर्चाओं से गायब हो जाएगा और जन-हितैषी और सत्ता-परिवर्तन की राजनीति करने वालों के लिए भी वह महज निचले स्तर का अर्थिक सवाल ही बनकर रह जाएगा। ये घटनाएँ पूँजीवाद में 'मानवीय अवस्था' (ह्यूमन कंडीशन) की आलोचना करने में मदद करती हैं। एक तरफ अगर ये घटनाएँ पूँजीवाद में उजरती श्रम और औद्योगिक जीवन की अवस्था को उसकी सामान्य

संरचना के साथ जोड़ कर देखने में मदद करती हैं — पूँजीवादी पाश्विकता की जैविक वास्तविकता का दर्शन कराती हैं, तो दूसरी तरफ वे पूँजीवाद के नव-उदारवादी चरण (यानी पूँजीवाद के स्थायी संकट के दौर) में पूँजीवादी पाश्विकता के विशिष्ट स्वरूपों को उजागर करती हैं।

मुंडका के संदर्भ में कई मजदूर हितैषी पत्रकारों और कार्यकर्ताओं ने इस पाश्विकता का बहुत ही सटीक और मार्मिक चित्रण किया है। उन्होंने इस तरह की घटनाओं के पीछे पूँजीपतियों की अधिकतम मुनाफा कमाने की और लागत घटाने की होड़ को मुख्य कारण के रूप में बताया है। इस होड़ में इन पूँजीपतियों को प्रशासनिक भ्रष्टाचार और राजकीय संरक्षण सहारा देते हैं। शायद ये संरचनात्मक कमजोरियाँ व्यक्तिगत पूँजीपतियों अथवा औद्योगिक संस्थाओं की मुनाफाखोर पाश्विकता को बढ़ावा देती हैं — अधिकांश औद्योगिक दुर्घटनाएँ और अन्य क्षति की घटनाएँ अधिकतम लाभ कमाने की होड़ में मालिकों द्वारा अपर्याप्त सुरक्षा उपाय करने की वजह से होती हैं। इन व्याख्याकारों और कार्यकर्ताओं के अनुसार अगर इन प्रवृत्तियों के साथ-साथ भ्रष्टाचार और राजकीय संरक्षण पर लगाम लगा दी जाए तो विद्यमान औद्योगिक संरचना के बावजूद भी हादसों की घटनाएँ थम जाएंगी। परंतु उनके अनुसार ऐसा करने के लिए मजदूर-पक्षीय राजनीतिक (अर्थात् राजकीय) नेतृत्व और इच्छाशक्ति की आवश्यकता है।

वैसे भी भारत में कानून-व्यवस्था की मौजूदगी के बावजूद उनका अनुपालन नहीं होता क्योंकि उन्हें लागत के रूप में देखा जाता है। तभी तो भारतीय अर्थव्यवस्था के नवोदारीकरण के दौर में और खास तौर पर तथाकथित 'फासीवादी' मोदी सरकार द्वारा "व्यापार करने में आसानी" (ease of doing business) के नाम पर इस "अनुपालन के लागत" को कम करने के लिए श्रम विधि-व्यवस्था में पूँजी-हित में आमूल चूल परिवर्तन किया जा रहा है। इस "लागत" को कम करने के लिए नए लेबर कोड और अन्य कानूनों के तहत पूँजीपतियों को फैक्ट्री लगाने से लेकर तमाम औद्योगिक गतिविधियों में प्रशासनिक मंजूरियों की व्यवस्था को आसान किया जा रहा है। फैक्ट्रियों के अंदर औद्योगिक हित में मनमानी करने के लिए छूट दी जा रही है — यहाँ तक कि औद्योगिक हादसों और अन्य औद्योगिक अपराधों के मामलों में आपराधिक कानून के इस्तेमाल पर सीमाएं लगाई जा रही हैं।

इन सब तथ्यों को उजागर करने में तथा राजकीय प्रशासनिक कमजोरियों और मोदी सरकार की कॉर्पोरेट-परस्त नीतियों का भंडाफोड़ करने में इन मजदूर-हितैषियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। परंतु विडंबना तब पैदा होती है जब ध्यान इस तथ्य पर जाता है कि इस तरह की घटनाएँ कॉर्पोरेट कंपनियों से ज्यादा छोटे और अनियंत्रित उद्योगों में होती हैं जो अनौपचारिक अथवा असंगठित क्षेत्र में आती हैं जहाँ हिंदुस्तान का ९५ प्रतिशत मजदूर वर्ग खट्टा रहा है। बहुत सारे श्रम-हितैषियों ने अपनी तथाकथित जन-पक्षीय राजनीति में छोटे और बड़े मालिक हितों के बीच के अंतर को एक प्रमुख संरचनात्मक अंतर्विरोध के रूप में देखा है, जिसकी वजह से वे पूँजी के सामान्य प्रवृत्तियों पर ध्यान देने की जगह कॉर्पोरेट-विरोध पर ध्यान केंद्रित करते हैं। इसी कारण से वे सीधे-सीधे छोटे मालिकों पर निशाना साधने की जगह ऊपर बताए वैधानिक और प्रशासनिक अव्यवस्था को कारण बताते हैं। आखिर ये छोटी कंपनियां कहीं न कहीं उसी वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला के हिस्सा हैं जिन्हे कॉर्पोरेट हित नियंत्रित करते हैं। उनके अनुसार यही आनुभविक और अधिरचनात्मक संदर्भ है, जिसे वह भूल से संरचनात्मक मान लेते हैं, जो अनियंत्रित उद्योगों को तमाम सुरक्षा मानदंडों का उल्लंघन करने के लिए प्रेरित करते हैं, जिनकी वजह से इन उद्योगों में हादसे अधिक होते हैं। वे समझ नहीं पाते हैं कि यह छोटे-बड़े का सवाल क्या दोष मढ़ने का भी सवाल नहीं है। इन पूँजीपतियों की चर्चा केवल उसी हद तक की जानी चाहिए, "जिस हद तक कि वे किन्हीं आर्थिक संवर्गों के साकार रूप या किन्हीं खास वर्गीय संबंधों और वर्गीय हितों के मूर्त रूप बन गए हैं।" (पूँजी भाग १:१९) इसीलिए इन हादसों के कारकों की विशिष्ट व्यक्तियों, कंपनियों, विधियों या विधानों में देखना नाजायज है, उनको सही ढंग से समझने के लिए उनको पूँजीवाद के मौलिक सामाजिक संबंध — पूँजी-श्रम संबंध — से जोड़ कर देखना होगा,

जिसके लिए हमें आकस्मिक प्रतीत होती घटनाओं और उनकी तात्कालिक कारकों के शोर-शराबे से दूर उस "गुप्त प्रदेश" में घुसना होगा जहां पूँजी और उसकी सामाजिक सत्ता का निर्माण होता है।

### "पूँजी के अस्तित्व की आवश्यक शर्त"

मार्क्स इंग्लैंड में लाए गए फैक्ट्री-अधिनियमों और अन्य श्रम विधानों के प्रगतिशील प्रावधानों के असर और उनके कार्यान्वयन की समस्याओं की चर्चा करते हुए बताते हैं कि "सफाई-विभाग के अफसर, औद्योगिक जांच-कमिश्नर, फैक्ट्री-इंस्पेक्टर" जिन्होंने उस जमाने के फैक्ट्री जीवन की विभीषका का बखूबी पर्दाफाश किया था, वे सब बार-बार राग अलापते थे कि मजदूरों से काम लेने के लिए उनकी कुछ बुनियादी जरूरतों पर ध्यान देनी चाहिए, अगर ऐसा नहीं हुआ तो मजदूरों के लिए ये काम जानलेवा साबित होगा। ये मजदूर हितैषी अफसरान "रोना रोते हैं कि पूँजी से यह [सब] पाना असंभव है।" मार्क्स दिखाते हैं कि किस प्रकार कानूनी प्रावधानों का असर छोटे मालिकों के खातमे, बड़े मालिकों के विकास और मशीनीकरण में होता है। वे कहते हैं,

“इन फैक्ट्री-अधिनियमों से उनकी अनिवार्य धाराओं के कारण अप्रत्यक्ष रूप से छोटे-छोटे वर्कशापों के फैक्टरियों में बदल जाने की प्रक्रिया में तेजी आ जाती है और इस तरह छोटे पूँजीपतियों के स्वामित्व के अधिकारों पर अप्रत्यक्ष रूप में प्रहर होता है तथा बड़े पूँजीपतियों का एकाधिकार प्राप्त हो जाता है।”

अगर इन अधिनियमों में प्रस्तावित मजदूर-हित के सभी धाराओं को अनिवार्य बना दिया जाए “तो एक झटके में हजारों की संख्या में छोटे मालिकों की संपत्ति का प्रत्यक्ष रूप से अपहरण हो जाएगा! उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली की जड़ — अर्थात् श्रम-शक्ति की “स्वतंत्र” खरीदारी और उपभोग के द्वारा छोटी या बड़ी, हर प्रकार की पूँजी के आत्मविस्तार — पर ही चोट हो जाएगी।” इस पूँजी-घातक असर के नतीजतन यही कहा जा सकता है कि “उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें एक बिन्दु के आगे कोई विवेकसंगत सुधार नहीं किया जा सकता”। (पूँजी भाग १: ५१३)

औद्योगिक हादसों को सामाजिक समस्या के रूप में देखने के लिए हमें उसको “पूँजी के अस्तित्व की एक आवश्यक शर्त” के रूप में देखना होगा। यह बात मार्क्स ने औद्योगिक मजदूरों की बीमारियों के लिए कहा था। यह शायद सभी जानते हैं कि “मजदूरों में तपेदिक और फेफड़े की अन्य बीमारियों का होना” उनके काम की परिस्थितियों से जुड़ा है। (पूँजी भाग १: ५१३) परंतु मार्क्स के अनुसार यह समझना नाकामी है। इन बीमारियों की संभावनाओं को मिटाने के लिए जिस तरह की व्यवस्था चाहिए उसका पूँजीवादी प्रणाली के अंदर पाना असंभव है। और यही बात इन बीमारियों को पूँजीवादी अस्तित्व की आवश्यक शर्तों में से एक बना देती है। इन बीमारियों की ही तरह औद्योगिक हादसे भी संभावित ही हैं, परंतु इन संभावनाओं को पूँजीवादी प्रणाली के अंदर नहीं मिटाया जा सकता। ये हादसे प्राचीन सांख्य दर्शनिकों की भाषा में सत्कार्य हैं अर्थात् वे अपने होने के पूर्व अव्यक्त रूप में ही सही अपने कारण यानी पूँजीवादी सामाजिक-औद्योगिक व्यवस्था में मौजूद रहते हैं — बीजरूप से कार्य कारण में अंतर्निहित रहते हैं तथा कारण कार्य में स्वभावतः विद्यमान रहते हैं। यही गुण हादसों को (कार्य) पूँजी (कारण) के अस्तित्व की एक आवश्यक शर्त बनाता है।

### वित्तीयकरण, नवोदरवाद और बेशी आबादी

मुंडका जैसी घटनाओं की एनाटॉमी पर ध्यान देने से शायद हम भारतीय पूँजीवाद की कुछ विशेषताओं को बेहतर ढंग से समझ पाएंगे। यह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि मजदूर आंदोलन पर माँगवादी राजनीति की वर्चस्वता ने आंदोलन को राजकीयता, वैधानिकता, तात्कालिकता और प्रतिक्रियात्मकता की भाषा में जकड़ रखा है — मांगों और शिकायतों की असीमता में आंदोलन

को फंसाए रखते हुए, उन्होंने पूंजीवाद की व्यवस्थापरक सीमाओं को उधाड़ने और पार करने की राजनीति को नजरअंदाज कर दिया है। निष्कर्षतः, मजदूर-हितेषियों ने आंदोलन में क्रांतिकारी वर्गीय क्रियाशीलता की जगह पर व्यक्तिकृत मजदूरों के बेचारेपन को केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया है। मुंडका की चर्चा से शायद भारतीय श्रम कानून व्यवस्था की भी गति और स्थिति का ज्ञान होगा — आखिर, बात निकली है तो दूर तलक जाएगी!

इस कंपनी की कहानी कोई विशेष नहीं है, इसीलिए उसे "नए" औद्योगिक इकाइयों के एक सामान्य नमूने के रूप में देखा जा सकता है। इसके मालिक, हरीश गोयल को छोटे पूंजीपतियों के एक रंगीन जलसे में इस घटना से लगभग २ महीने पहले मुम्बई में बिज़नेस की दुनिया में चीन को टक्कर देने वाले देशभक्त सिपाही की तरह पेश किया गया था। इस नवसीखिए पूंजीपति ने अपने ठेठ अपरिष्कृत अध-अंग्रेजी अध-पंजाबी हिंदी वक्तव्य में आत्म-प्रचार करते हुए अपनी मुनाफाखोरी को सस्ते बेमतलब मिशनेरी स्टाइल में व्यक्त किया —

“मैं चला था पंजाब से न कुछ लेके एक जुनून के साथ कि जिंदगी में कुछ करना है। दिल्ली में आने के बाद एक जुनून था कि चाईना से हम इम्पोर्ट करते हैं, हम इंडिया में क्यों नहीं कुछ बना सकते। हमने आरओ वाटर पिउरीफायर की मैन्युफैक्चरिंग स्टार्ट की। इसके पार्ट्स इम्पोर्ट होते थे हमने इन पार्ट्स को इंडिया में मैन्युफैक्चर शुरू किया। तब एक और चीज नजर आई कि सिक्युरिटी की सबको जरूरत है, तब हमने सीसीटीवी के पार्ट्स इम्पोर्ट किये और यहाँ पे मैन्युफैक्चरिंग स्टार्ट की। आफ्टर डैट कुछ पार्ट्स इंडिया में मैन्युफैक्चर भी स्टार्ट करने शुरू कर दिए....”

यही बेतुकी लफकाजी आज मोदी के “मेक इन इंडिया” और केजरीवाल के “मेक इंडिया नंबर वन” के मिशनों से इन “नए” पूंजीपतियों को आसानी से जोड़ देता है। इन पूंजीपतियों के आदर्श पुराने मारवाड़ी, पारसी और बनिया पूंजीवादी घराने नहीं हैं जिन्होंने एक जमाने में छोटा ही शुरू किया होगा, परंतु जिनके नीव में समाजशास्त्रियों के अनुसार तथाकथित प्रोटेस्टेंट एथिक — व्यावसायिक मितव्यिता और तर्कसंगतता — ने अहम भूमिका निभाया था। ये “नए” पूंजीपति समाज के किसी कोने से भी पैदा हो सकते हैं — ये सही मायने में वित्तीयकृत पूंजी के उपज हैं, इनका बिज़नेस लॉज़िक वित्तीय और सट्टा पूंजी का बेतर्क तर्क है। ये पूंजी के असली मूर्तिकरण हैं, जिनके लिए उत्पादन महज इंसिडेंटल है — जिनके लिए विशेष उद्योगों की विशेषताएँ नाजायज़ हैं, जिन्हें आठा पीस कर बेचने, इंटरनेट के उपकरण बनाने और विश्वविद्यालय चलाने में अंतर किया जाना सही नहीं लगता।

पुराने पूंजीवाद के संभ्रांतवाद के खिलाफ आज सामाजिक-औद्योगिक संबंधों का नवोदारीकरण एवं वित्तीयकरण पूंजीवाद के अंदर नवोदरवादी अराजक जनवादी प्रतिक्रांति ला रहा है — “जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है, जो कुछ पावन है, वह भ्रष्ट हो जाता है।” यह वक्त है जब सभी अधोरोजगार सामाजिक श्रमिक को व्यवसायी होने की पट्टी पढ़ाई जाती है — वह जॉब सीकर (काम ढूँढ़ने वाला) नहीं जॉब क्रियेटर (काम पैदा करने वाला) हो सकता है। पूंजीवाद के इस विद्यमान चरण के बारे में डेविड हार्वे (१९८९: १७१) कहते हैं कि जहां पूंजीवादी समाज का पुराना फोर्डवादी चरण आधुनिक जीवन के अंदर सापेक्षतः ठोस मूल्यों पर आधारित था, यह नवोदरवादी चरण इसी जीवन में क्षणिक, भगोड़ा, और आकस्मिक को खोज निकालता है और उन्हें उत्पादक बनाता है। पूंजीवादी अंतरिक्ता की संरचना में ये गुण हमेशा ही मौजूद थे, परंतु वे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के केंद्र में तभी आते हैं जब वित्तीयकरण और सूचनाकरण पूंजी को स्थानकालिक रुढ़ों से तात्कालिक रूप में स्वतंत्र कर देते हैं, और श्रम-संबंधों के तमाम संभावित स्वरूपों को पूंजी अपने उत्पादन और संचय का साधन बना लेती है — केंद्र और विकेंद्र के स्थानकालिक पदानुक्रम की जगह पर पूंजी अपने आप को नेटवर्क के बतौर स्थापित करता दिखता है। यह चरण कुछ नया नहीं लाता है, वह पूंजीवादी अंतरात्मा को उसकी नग्नता में लाकर खड़ा कर देता है।

इसीलिए यहां हम आगाह कर दें कि जिनको हम नए पूँजीपति बोल रहे हैं, अपने आप में, कम से कम भारत और ग्लोबल साउथ के कई देशों में, वे हमेशा ही मौजूद थे। भारत में पूँजीवाद का विस्तार उनके दम पर ही हुआ है — वही ग्रामीण, अर्द्ध-ग्रामीण, शहरी आबादी के अधिकांश हिस्से की श्रम-शक्ति के तात्कालिक नियोजक और दोहन करने वाले थे। भारत में बेशी आबादी के विस्तारित पुनरुत्पादन और श्रम बाजार से उन्हें बांधे रखने का वे ही जरिया रहे हैं। इस आबादी को पूँजीवादी आवश्यकताओं, वर्क-एथिक और अनुशासन में आरंभिक सामाजिक प्रशिक्षण देने का कार्य इनके ही जिम्मे रहा है। इन्हें असंगठित, अनौपचारिक, कुटीर, लघु व पारंपरिक जैसे कई तरह के नामों से नवाजा गया है और कानूनी दायरे से बाहर रखा गया है। आज की स्थिति में जो नया है वह बस यही है कि जो पूँजीवाद के पिछवाड़े संभालते थे, वे अब सामने आ गए हैं क्योंकि पूँजी संचय की विद्यमान परिस्थितियों और आवश्यकताओं के संदर्भ में ऐसे स्थानिक भेद निरर्थक हो गए हैं — आखिर पूँजी पिशाच ही तो है, प्यास तो खून (जीवंत श्रम) की है, मामला उसे इकट्ठा करने का है, कहीं पर बड़े लोटे काम आते हैं, तो कहीं पर छोटे, लहू का हर कतरा चाहिए उसे। वित्त-पूँजी सार्विक समतुल्यीकरण (universal equalisation) की प्रक्रिया को निर्विघ्न बनाने का काम करती है — बिना भौतिक केन्द्रीकरण के छोटी-बड़ी विकेंद्रित इकाइयों को एक दूसरे से जोड़ देती है।

हरीश गोयल सरीखे "स्टार्ट-अप" उद्योगपति इसी अवस्था के मॉडल पूँजीपति हैं, जब पूरी जनसंख्या का तकरीबन बेशीकरण हो गया है — ध्यान रहे मार्क्स के लिए बेशी आबादी बेरोजगारी का पर्याय नहीं है। मार्क्स के लिए "रोजगार पाने की अनिश्चितता और अनियमितता, बार-बार श्रम की मंडी में मजदूरों का आधिक्य हो जाना और इस स्थिति का बहुत देर तक बने रहना — बेशी आबादी के ये सारे लक्षण" हैं। (पूँजी भाग १:७४३) वित्तीयकृत पूँजी के दौर में यह स्थिति सम्पूर्ण श्रमिक आबादी पर लागू होती है — यह पूरी "सापेक्ष बेशी आबादी ...तीन रूपों में दिखाई देती है: अस्थायी, अव्यक्त और गतिरुद्ध रूप में।" (पूँजी भाग १:६७३) वित्तीयकृत पूँजी और नवोदारीकरण का दौर वह अवस्था है जब हरेक व्यक्ति महज श्रमावधि की निश्चित मात्रा की थैली है और समान श्रमावधियाँ एक दूसरे से पूरी तरह विनिमेय हैं। मूर्त श्रम का तात्कालिकता में अमूर्तिकरण हो रहा है। हरेक व्यक्ति और उसका कौशल तकरीबन पूरी तरह से गौण हो गए हैं। श्रमशक्ति और पूँजी का लगातार तेज होता अवमूल्यन वास्तविक अर्थतन्त्रों और राजसत्ताओं को स्थिर होने का मौका नहीं दे रहा। सामाजिक और राजनीतिक स्तरों पर "कई प्रकार के रूण लक्षण प्रकट होते हैं"। वास्तविक अर्थतन्त्रों, सभी प्रकार के संसाधनों और सामाजिकताओं के प्रति निर्लञ्छ उदासीनता और उनका यंत्रीकरण आज की सच्चाई है। वाजिब ही त्वरित मुनाफाखोरी का सामान्यीकरण और औद्योगिक हादर्सों के प्रति उदासीन रवैया आम हो जाता है।

मुंडका की कंपनी पर लांछन है कि उसने बहुत सारे कानूनी प्रावधानों और मजदूरों की चूनतम सुरक्षा आवश्यकताओं का उल्लंघन किया है। इस कंपनी में अधिकांश महिलाएं काम करती थीं और स्वाभाविक ही है कि अधिकांश मरने वाली भी महिलाएं ही थीं। महिलाएं होने के नाते "फालतू आबादी" के पदानुक्रम में भी वे अंतिम छोर पर ही आती हैं। और महिला श्रम का इस्तेमाल पूँजीवादी परंपरा में बहुत सारे दायित्वों से पूँजीपतियों को मुक्त कर देता है। आइए एक बार फिर ग्राफिक चित्रण के शिल्पी कार्ल मार्क्स को सुनते हैं जो पूँजीवादी तर्क को कवियों से भी बेहतर ढंग से जीवित बिंबों द्वारा व्यक्त करते हैं —

"यांकियों ने पहाड़ तोड़ने की एक मशीन ईजाद की है। पर अंग्रेज लोग इस मशीन का उपयोग नहीं करते। वह इसलिए कि जो "wretch" [अभागा] वह काम करता है, उसे उसके श्रम के केवल इतने कम भाग की कीमत मिलती है कि मशीनों का उपयोग करने पर पूँजीपति की उत्पादन की लागत एकदम बढ़ जाएगी। इंग्लैंड में अब भी नहरों में चलनेवाली नावों को खीचने के लिए घोड़ों के बजाए कभी-कभी औरतों को इस्तेमाल किया जाता है। यह इसलिए कि घोड़ों तथा मशीनों को पैदा करने में कितना श्रम लगेगा, उसका तो ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है, लेकिन फालतू आबादी की औरतों को जीवित रखने में इतना कम श्रम लगता है कि उसका हिसाब लगाने की भी कोई खास जरूरत नहीं होती। यही कारण है कि मशीनों के देश — इंग्लैंड — में

मानव की श्रम-शक्ति का अत्यंत निकृष्ट कामों के लिए जैसा लज्जाजनक एवं घोर अपव्यय किया जाता है, वैसा और किसी देश में नहीं किया जाता।" (पूँजी भाग १:४२०-१)

यहीं भारत का भी सत्य है। जहां "फालतू आबादी" असीमता में मौजूद हो वहाँ पूँजीवादी तर्क में उसका इस्तेमाल करने में लज्जा किस बात की — वह बिल्कुल ही अपव्यय नहीं है। पूँजीवादी कॉर्पोरेट की आधुनिकता और राजकीय सेक्टरों की सुकूनता के तामझाम के पीछे पूँजीवाद की असली नीव और सच्चाई यहीं है — फालतू आबादी का पारावार और उसमें डुबकी लगाते पूँजी के छोटे-बड़े सिपाही।

### श्रम कानून में बदलाव — जरिया और नतीजा भी

पूँजीवाद में श्रम कानूनों का एक ही कार्य है — श्रम बाजार का इस प्रकार नियोजन होता रहे ताकि पूँजीवाद का बिना अवरोध के पुनरुत्पादन हो सके। इसके लिए सर्वप्रथम बाजार में पर्याप्त श्रमशक्ति उपलब्ध होना जरूरी है — इसीलिए न्यूनतम मजदूरी (जो कि न्यूनतम है, जीवंत मजदूरी नहीं है) और अन्य मजदूरी के भुगतान को लेकर कानून बनते हैं ताकि मजदूर अपने जीवन के सबसे उपजाऊ चरण में अगले दिन काम पर आ सके। हिंदुस्तान जैसे देशों में जहां कौशल के हरेक स्तर पर बेशी आबादी मौजूद हो, वहाँ न्यूनतम पाना भी संघर्ष है। बहुत सारे श्रमिक हितैषियों को मु़गालता है कि उनके जैसे लोगों की परिश्रम है जिसने श्रमिकों के लिए अधिकार उपलब्ध कराए। परंतु ऐसा मानना राजसत्ता के स्वाभाविक पूँजीवादी चरित्र को नजरअंदाज करना होगा कि यदि वह कल्याणकारी होती भी है, तो आर्थिक तर्क से।

श्रमशक्ति की अनुपलब्धि का डर श्रम कानूनों की प्रकृति को तय करने में अवश्य ही अहम भूमिका निभाते हैं — इसमें श्रमिकों की चेतन-अचेतन-अवचेतन क्रियाशीलता और उनके व्यवहार केंद्र में होते हैं। इसी क्रियाशीलता पर नियंत्रण मशीनीकरण और आबादी के बेशीकरण के साथ-साथ श्रम और दंड-विधानों द्वारा संभव हो पाता है।

पूँजीपतियों और अन्य वर्चस्वकारी हितों की आपसी प्रतिस्पर्धा एक अन्य अहम कारक है। इंग्लैंड में कई श्रम-पक्षीय कानून जमीदारों और उद्योगपतियों के बीच घमासान संघर्ष के दौरान हासिल हुए, जिसका फायदा चार्टिस्टों के आंदोलन को मिला। उसी तरह पूँजीपतियों की आपसी प्रतिस्पर्धा राजसत्ता को उसके नियम तय करने को मजबूर करती है — जो कानूनों द्वारा औद्योगिक मानक तैयार करती है। भारत में श्रम कानूनों के आविर्भाव में हितैषियों की मेहनत से ज्यादा हिंदुस्तान के विदेशी-देशी पूँजीपतियों के "अनुचित" तुलनात्मक लाभ के खिलाफ मैनचेस्टर और लिवरपूल के पूँजीपतियों की मुहिम कारगर थी।

हिंदुस्तान में तथाकथित संरक्षक श्रम कानूनों ने क्रान्तेतर श्रम-सम्बन्धों के विकास में मदद की है। औपचारिक प्रक्रियाओं को ठोस करने के नाम पर अनौपचारिक प्रक्रियाओं का विस्तार हुआ है, यहाँ तक कि औपचारिक क्षेत्रों में अनौपचारिक प्रक्रियाओं को स्थापित किया गया है। कानूनों में उनके कार्यान्वयन के दायरे को सीमित करने के लिए विशिष्ट फिल्टर के प्रावधानों को डाल दिया गया है ताकि उनका सामान्यीकृत इस्तेमाल न हो सके — औद्योगिक पदानुक्रम और श्रम-खंडकरण (labour segmentation) का फैलाव होता रहे। हिंदुस्तान की श्रम कानून व्यवस्था कभी भी समावेशी नहीं थी। अधिकांश श्रम-पक्षीय कानूनी प्रावधान कुशल श्रमिकों की कमी के संदर्भ में आए थे जो जल्द ही कई स्तरों के कुशल श्रमिकों की आबादी के बेशीकरण के साथ निरर्थक हो गए और हम उनका व्यापक उल्लंघन होता देखते हैं और राज्य की तरफ से भी उनको रद्द या उनके दायरे को लगातार सीमित करने की कोशिश होती रही।

फ़िल्टरों के सहारे अधिकांश औद्योगिक ईकाइयाँ इन कानूनों का पालन करने से बचते रहे हैं — केवल अनियंत्रित उद्योग ही नहीं, छोटी-मँझोली कंपनियां ही नहीं, बड़ी कंपनियां भी विविधीकरण द्वारा इनके अमल करने की अनिवार्यता से निजात पा सकते हैं। नए श्रम कानून अथवा कोड औद्योगिक भारत में श्रम संबंधों की सामान्य स्थिति का वैधानिक रूप है — कल तक जो निचले स्तर की कंपनियों — छोटी, मँझोली और अनियंत्रित — का विशेषाधिकार था उसको आज पूरे औद्योगिक जगत के अधिकार के रूप में संहिताबद्ध किया जा रहा है। इस मायने में नया कोड पुराने कानून का एक तरह से विस्तार है, इसीलिए सामान्य मजदूरों के रोष की लामबंदी इस कोड के खिलाफ असंभव है क्योंकि उनके लिए कुछ भी नहीं बदला है। श्रमिक हितैषी कानून के इतिहास को गलत पढ़ते हैं — “क्या आर्थिक संबंध कानूनी अवधारणाओं द्वारा नियंत्रित होते हैं, या इसके विपरीत, कानूनी संबंध आर्थिक संबंधों से उत्पन्न नहीं होते हैं?” (मार्क्स, गोथा कार्यक्रम की आलोचना) कानून नई व्यवस्था तैयार नहीं करता, कानून नई व्यवस्था की महज वैधानिक मान्यता है।

कानून आने या बहाल होने के वक्त महज सांकेतिक लड़ाई होती है जो ही ही सकता है बहाली को विलंबित/निलंबित कर दे। या कानून के विद्यमान स्वरूप को स्थगित कर दे (जैसा कि कृषि कानूनों के मामले में हुआ) परंतु उस स्थिति पर इस लड़ाई का कोई असर नहीं होता जिसका वह कानून वैधानिक व्यवस्थितकरण है।

### उपसंहार

औद्योगिक हादसे पूंजीवादी अर्थतंत्र की आवश्यक शर्त हैं यानी उनकी संभावना पूंजीवादी जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं। कानूनी और प्रशासनिक सुधारों और चौकसी द्वारा उनके होने को कुछ ही हद तक टाला जा सकता है। वैसे भी इन सुधारों की सीमा है। मुंडका की घटना जहां एक तरफ भ्रष्टाचार और क्रानूनों की अवज्ञा का उदाहरण है (जिस पर हितैषियों का ध्यान सबसे ज्यादा जाता है), तो दूसरी तरफ और मुख्यतः वह पूंजीवादी औद्योगिक जीवन की नैसर्गिक नृशंसता का घोतक है। यह नृशंसता असीम बेशीकरण के माहौल में व्यक्तिकृत श्रमिकों की त्याज्यता को दर्शाती है।

कानूनी कार्रवाई पर जोर, असंभव की ओर लक्षित वर्गीय संघर्ष को, प्राप्य व्यक्तिकृत अधिकारों की लड़ाई में तब्दील कर देता है, और इन घटनाओं की व्यवस्थापरकता को धूमिल कर देता है। राहत की लड़ाई जरूरी है — भूखे पेट भजन होय न गोपाला! परंतु इस लड़ाई तक हम इसलिए सीमित रह जाते हैं क्योंकि मजदूरों के साथ हमारा संबंध इसी वक्त गहराता नजर आता है, हमारी महत्ता का उन्हें अंदाजा होता है, वे हमारी बातें सुनते हैं। यहाँ तक की इसी वक्त हमें वे राजनीतिक प्रतीत होते हैं। परंतु शायद हम ध्यान नहीं देते कि इस वक्त इस रूप में ये मजदूर वर्ग नहीं, मजदूरों की भीड़ होते हैं — इस वक्त उनकी संख्या महत्व रखती है, वही भीड़ की ताकत है, और जो उनको हांक लेता है, उनकी वह ताकत ही जाती है। यही वक्त है जब हवा में राजनीतिक लफ़काजियां और तेवर इन मजदूरों को आकर्षित करने के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं।

उनकी वर्गीयता उनकी स्वयं-स्फूर्ति में है, उनकी क्रियाशीलता, उनकी आत्म-गतिविधि में है, आपस के तालमेल में है। श्रमिक वर्ग के दैनिक संघर्षों में, उनके रोजमरा के संघर्षों में उभरती सामूहिकता, उनकी वर्गीयता हम समझ नहीं पाते — उस वक्त कई हितैषियों के लिए वे “प्राक्-राजनीतिक” लगते हैं, क्योंकि मांग की भाषा में वे बंधे नहीं होते, और नाहीं वे राजनेताओं और सरकारों के दरबारों में गुहार लगा रहे होते हैं। सामूहिक स्व-गतिविधि प्रत्यक्ष सीधी कार्रवाई अवश्य है, परंतु सामूहिक ज्ञान और गतिविधियों का इतिहास उसकी तथता में — श्रम-संबंधों, श्रमिकों के आपसी संबंधों, पूंजी से उनके टकरावों के स्वरूपों की संरचना में मौजूद होता है। इस तथता में अंतर्निहित वर्गीय क्रियाशीलता के सांगठनिक स्वरूपों और उसकी भाषा के व्याकरण की पहचान और उनका विकास करना क्रांतिकारियों का दायित्व है।

## उद्धरण

१ टॉम ड्वायर (१९९१) लाइफ एण्ड डेथ ऐट वर्क: इंडस्ट्रियल आक्सीडेंट्स ऐज अ केस आॅफ सोसियली प्रोड्यूर्स एरर, स्प्रिंगर, न्यू यॉर्क

२ कार्ल मार्क्स (१८६७: १९८७) पूंजी खंड १, प्रगति प्रकाशन, मास्को

३ कार्ल मार्क्स (१८७५) क्रिटिक आॅफ गोथा प्रोग्राम (गोथा कार्यक्रम की आलोचना)

४ डेविड हार्वे (१९८९) द कंडीशन आॅफ पोस्टमॉडरनिटी, ब्लैकवेल, कैम्ब्रिज